छायावादी कवियों की साहित्य-दृष्टि

- डॉ. भँवर सिंह शक्तावत

शोध सार:

हिंदी आलोचना के इतिहास में 'कवि आलोचना' की शुरूआत छायावाद से आरंभ होती है। इन कवियों का रचना क्षेत्र मूलतः कविता करना ही था लेकिन छायावादी कविता पर रहस्यवाद या उसके अभारतीयपन को लेकर चारों तरफ से प्रहार हुए तो इनको प्रत्यूतर के लिए उन्हें अपनी कविता का वकील या आलोचक स्वंय होना पड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो सवाल छायावाद की मनोभूमि को लेकर उठाए उसका प्रतिवाद इन कवियों ने किया। कहीं न कहीं यह व्यावहारिक आलोचकों की सीमा भी रही हैं कि नवीन काव्य प्रवृत्ति का सही मूल्यांकन न कर पाने से कवियों को स्वयं इस क्षेत्र में आना पड़ता रहा है। इससे हिंदी आलोचना को कोई नुकसान हुआ हो; ऐसी बात नहीं है बल्कि इससे हिंदी आलोचना सुदृढ़ ही हुई है। दूसरा; स्वयं कवियों द्वारा लिखी जाने वाली आलोचना चाहे वह 'सैद्धान्तिक' आलोचना हो या 'व्यावहारिक' इसने काव्य की रचना-प्रक्रिया के संबंध में कई नवीन उदभावनाएँ की है। परवर्ती कवियों ने भी इस पर विस्तार से चिंतन मनन करके इस कार्य को आगे बढ़ाया है।

छायावादयुगीन कवियों में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' एवं महादेवी वर्मा ने गम्भीरतापूर्वक काव्यकला, यथार्थ और आदर्श, लघु एवं महत् एवं क्षण संबंधी प्रक्रियाओं पर विचार किया है।

बीज शब्दः- छायावाद, जयशंकर प्रसाद, आलोचना, हिंदी साहित्य, कविता, यथार्थ

जयशंकर प्रसाद की साहित्य संबंधी मान्यताएँ भारतीय परंपरा, भारत की भौगोलिक परिस्थितियों एवं रूचियों से प्रभावित होकर निर्मित होती है। इसलिए वे अपने 'काव्य और कला' निबंध में वर्तमान हिंदी आलोचना के परिदृश्य पर विचार करते हुए पश्चिमी आलोचना सिद्धांतो का भारतीय परिप्रेक्ष्य में विवेचन करते हैं। वे लिखते हैं - "हिंदी में साहित्य की आलोचना में दृष्टिकोण बदला हुआ सा दिखायी पड़ता है।---इस युग की ज्ञान संबंधिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन शैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखायी देने लगा है, किन्तु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की दुहाई सुनी जाती है, परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है।---साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौंदर्यानुभूति की खोज आप्रासंगिक नहीं, किंतु आवश्यक है। साहित्य में सौंदर्य-बोध-संबंधी रूचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिसमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुसरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था जिसका तात्पर्य एक खण्डिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालंभ था। जहांगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझकर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रूचि के अनुसार उसने स्त्री का उपालंभ पुरूष के प्रति वर्णन किया है, तब जहांगीर का क्रोध ठंड़ा हुआ। यह रूचि-भेद सांस्कृतिक है।"1 प्रसाद की संपूर्ण आलोचकीय दृष्टि में यह भारतीय रूचिबोध मौजूद है। अपने विचारों के प्रमाण के लिए वे

भारतीय संस्कृति, शास्त्र, परंपरा की तरफ बार बार लौटते हुए दिखायी देते हैं। इसीलिए उनकी उद्भावनाओं में मौलिकता एवं नवीनता का पुट है।

जयशंकर प्रसाद ने छायावादी कविता के संदर्भ में आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि के प्रत्युत्तर में एक सृजक की दृष्टि से आलोचना प्रस्तुत की है। शुक्ल जी ने 'जगत' की बात की थी लेकिन छायावाद 'मनोजगत' को केंद्र में रखकर चला है। प्रसाद जी ने जब यह कहा कि 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।' तो उनका जोर इसी मनोजगत् पर था, चूँकि शुक्ल जी बुद्धिवादी आलोचक थे, इसलिए प्रसाद यहाँ एक तरह से 'बुद्धिवाद' से इतर 'आत्मवाद' की वकालत करते हैं। यही एक कारण रहा है कि छायावाद की कोई भी व्याख्या उसका दार्शनिक या आध्यात्मिक पक्ष जाने बिना संभव नहीं है। फिर भी राग और सौंदर्य छायावादी कविता का प्रमुख स्वर है और निराला में यह विद्रोह की हद तक जाता है। प्रसाद के अनुसार यह अनुभूति ही भिन्न-भिन्न भावबोध को रचना में सौंदर्यमय तरीके से प्रकट करती है। अगर अनुभूति गहरी और प्रामाणिक है तो रचना उतनी ही मर्मस्पर्शी और कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट होगी। प्रसाद इसी 'अनुभूति' के महत्त्व पर विचार करते हुए सूर और तुलसी के वात्सल्य वर्णन में जो फर्क है उसका विश्लेषण करते है। वे लिखते हैं, "रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की ?--- सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। --- रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबंध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परंपरा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण समर्थ दयालुता है।"2 प्रसाद दोनों महान लेखकों की रचना में वात्सल्य रस के विधान के फर्क को, अनुभूति की तीव्रता को उस कवि की किसी विशेष भाव-दशा से जोड़कर देखते हैं। [i]सूर के निकट शिशु कृष्ण की बाललीलाएँ थी तो तुलसी के लिए राम की मर्यादा पुरूषोत्तम की छवि। 'अनुभूति' प्रसाद के यहाँ रचना का प्राथमिक स्रोत है। यही 'संकल्पात्मक अनुभूति है'। लेकिन प्रसाद के अनुसार यह 'अनुभूति' व्यक्तिगत चेतना नहीं है बल्कि इसे परंपरा से समष्टिगत भाव को प्रकट करने की प्रेरणा मिली है। उनके अनुसार यह 'संकल्पात्मक अनुभूति' खास युग की खास परिस्थिति से ही उत्पन्न होती है। इस विशेष परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतना है, या चिन्मय धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केंद्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"3 उनके अनुसार सत्य हमेशा विराट होता है और समाज की सामूहिक चेतना में स्थित होता है। रचनाकार अगर इस सत्य को उसके मूल रूप में अपने अंतर्जगत का हिस्सा बनाता है तो वही प्रामाणिक लेखन माना जाता है।

यथार्थ के मूल में वे 'वेदना की भावना' को मानते है जिससे प्रेरित होकर रचनाकार सृजन कर्म में प्रवृत होता है। इस वेदना को व्याख्यायित करते हुए वे लिखते हैं, "वेदना से प्रेरित होकर जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धांत बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के दौरान यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के

कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरंभ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्म निरीक्षण और शुद्धि के प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है --- यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूलभाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है।"4

रचना में 'यथार्थ' के ग्रहण पर विचार करते हुए इसे वे 'जीवन की अनुभूति या अभिव्यक्ति' कहते हैं। इस यथार्थ चित्रण की शुरूआत हिंदी में वे भारतेंदु से मानते हैं। वे उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त यथार्थ को 'राष्ट्रीय वेदना' की अभिव्यक्ति कहते है, "श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरंभ किया था।"5 और इस यथार्थ को वे 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' कहते हैं, "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान हैं लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख"6 प्रसाद इस यथार्थ को वेदना से जोड़ते हुए इसको रचनात्मक स्तर पर ग्रहित करने को जोर देते हैं। स्पष्ट है यहाँ पर भी अनुभूति पर उनका बल है। दूसरा यथार्थ के वास्तविक उल्लेख पर भी वे जोर देना चाहते हैं। उनके विचारों में लोककल्याण की भावना स्पष्ट रूप से उभरती है। प्रसाद ने यथार्थ के आदर्शोंमुखी स्वरूप का समर्थन किया है। वे नग्न यथार्थ को स्वीकार नहीं करते हैं और न ही सिर्फ आदर्श के चित्रण को रचना में स्वीकार करते हैं। वे यथार्थ और आदर्श के बीच समन्वय चाहते हैं और श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के लिए इसे जरूरी मानते है, "साहित्य, समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"7 'दुःख दग्ध जगत' और 'आनंदपूर्ण स्वर्ग' ही यथार्थ और आदर्श का संयोजन है।

प्रसाद यथार्थ के रचनात्मक ग्रहण को स्वीकार तो करते हैं लेकिन वे यह भी चाहते हैं कि यथार्थ आदर्श को भी साथ लेकर चले। एक तरह से यह 'विरूद्धों का सामंजस्य' है। वे वाद के पक्षधर नहीं हैं बल्कि वे सभी तरह के विचारों के बीच समन्वय के पक्षधर है। इसीलिए वे कोरे आदर्शवाद और कोरे यथार्थवाद से असहमति प्रकट करते हुए इसकी सीमाओं को रेखांकित करते हैं, "सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता"8 स्पष्ट है प्रसाद साहित्य की स्वतंत्र हैसियत पर जोर देते हैं और किसी नियम या आदेश को इसकी स्वतंत्र प्रक्रिया पर हस्तक्षेप मानते हैं।

छायावादी कवियों में निराला के आलोचना लेखन से हमें उनके साहित्य संबंधी विचारों का पता चलता है एवं साथ ही हमें उनके सामाजिक, राजनैतिक दृष्टिकोण भी ज्ञात होते हैं। निराला अपने सामयिको में विशिष्ट हैं। उनके साहित्य संबंधी विचार उनकी इस विशिष्ठता को उजागर करते हैं। यथार्थ को लेकर उनकी यह उद्घोषणा 'गद्य जीवन संग्राम की भाषा है।' प्रसिद्ध है। सुख दुःख से स्पंदित जगत के क्रियाकलापों को साहित्य का प्रयोजन बता कर उन्होने साहित्य के विषय का विस्तार करने का प्रयास किया था। यथार्थ को

लेकर जो उनका दृष्टिकोण है वह सर्वव्यापक है। वे कहते हैं, "वह(यथार्थ) किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है इसलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है।"9 उपर्युक्त विचारों से निराला के साहित्य संबंधी दृष्टिकोण का पता चल जाता है। स्पष्ट है वे साहित्य की उस मनोवृति को बदलना चाहते हैं जो एकाँगी है और नवीन विचारों, युगीन हलचलों से दूर रहना चाहती है। यही वजह है कि निराला यथार्थ को रचनात्मक स्तर पर लाने की वकालत करते हैं। वे बंधी बंधायी परिपाटी से साहित्य को बाहर निकालना चाहते हैं। यह खुलापन यथार्थ के प्रति रचनाकार का दृष्टिकोण है। वे नहीं चाहते कि रचनाकार किसी सीमा में बद्ध हो रचनाकर्म करता रहे। निराला रचनाकारों को तत्युगीन हलचलों से जोड़ना चाहते हैं और इसको नवीन साहित्य की सृष्टि के महत्वपूर्ण घटक के रूप में देखते हैं। इस विचार को आगे वे और स्पष्ट करते हैं, "साहित्यिक यदि किसी सूक्ष्म समूह के अनुसार चलता है तो वह उच्चता नहीं प्राप्त कर सकता, जो समष्टि को लेकर चलता है।"10 निराला का समूह से यहाँ आशय उन परंपरावादी या यथास्थितिवादी रचनाकारों से है जो नवीन विचारों को दर्ज करने से कतराते हैं एवं कल्पना एवं आदर्श की कोरी अनुभूतियों में ही गोते लगाना पसंद करते हैं। निराला कहना चाहते हैं कि रचनाकार अपने अंतर्जगत को इतना संकुचित न रखें बल्कि बाहर जो परिवर्तन हो रहा है उसको अपने अंतर्जगत का हिस्सा बनाएं। यदि रचनाकार समाज की बनी बनायी चौखट के भीतर ही रचनाकर्म करता रहे और अपने समय में उत्पन्न विसंगतियों के साथ अंतर्द्वंद्व न करें तो ऐसा साहित्य नवीन या मौलिक नहीं हो सकता। रचनाकार को चाहिए कि वह बाह्य जगत के साथ अंतर्क्रिया करें एवं उसको अपने अंतर्जगत का हिस्सा बनाएं। निराला वर्तमान समाज व्यवस्था को आदर्श नहीं मानते बल्कि उसे पिछड़ी एवं दकियानूसी घोषित करते हैं। लेखक को चाहिए कि वह बाह्य जगत की हलचलों को वस्तुगत तरीके से देखें। वे साहित्य की उत्कृष्टता के लिए लेखन में क्रांतिकारी बदलाव की बात करते हैं क्योंकि बिना इसके श्रेष्ठ साहित्य का सृजन संभव नहीं है। वे एक उदाहरण के माध्यम से अपने इस विचार को स्पष्ट करते हैं- "पिता के श्राद्ध में ब्राहाण भोज तब ठीक था, जब ब्राहाण शिक्षा-गुरू और भिक्षान्नजीवी थे। अब यह पुण्य कार्य व्यापक विचार से नहीं रहा। साहित्यिक ऐसे स्थल पर यदि गरीबों को वर्णविचार छोड़कर खिलाता है, तो एक नई सूझ होती है, साहित्य को नई शक्ति मिलती है, समाज में एक नवीनता आती है।"11 निराला चाहते है कि रचनाकार वर्तमान समाज व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए अपने अंतर्जगत का अंग बनायें इसी में साहित्य और समाज का कल्याण छिपा हुआ है। समाज की चली आ रही प्रवृत्तियों के अनुरूप साहित्य सृजन करते रहने से साहित्य की कोई प्रगति नहीं हो सकती बल्कि लेखक को चाहिए कि वह लेखन कर्म के दौरान संकीर्ण धार्मिक, जातिगत दायरे में बंधा न रहकर ईमानदारी से रचनाकर्म करता रहे। वे कहते हैं 'अखिल विश्व का संवेदन एक है। वह देशकाल से बंधा न होकर एक मानवीय समाज है और मानवीय संवेदन एक सर्वव्यापी भाव है जो किसी दायरे में आबद्ध नहीं है।' निराला कहते हैं- "ऐसे सर्वसाधारण भावों पर लिखने वाले साहित्यिक को बाहरी छोटे-छोटे सांप्रदायिक अथवा जातीय उपकरण छोड़ देने पड़ते हैं। मनस्तत्व में ही उसे विशेष रूप से रहना पड़ता है।"12 मनस्तत्व में रहने से अभिप्राय यहां रचना प्रक्रिया के वस्तुगत निर्वहन से हैं। रचना प्रक्रिया की ईमानदारी से हैं। यह एक तरह से

लेखक के 'स्व' या 'आत्म' का एक सर्वसाधारण भाव में विसर्जित हो जाना है। यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि इसके लिए कठिन काव्य साधना की जरूरत होती है। उनके अनुसार यदि आज उत्कृष्ट साहित्य का अभाव दिखायी देता है तो इसके पीछे, "लेखकों का धर्म, संप्रदाय, जाति और रूढ़ियों के बंधनों में बंधा रह जाना है।"13 निराला लेखन में दलबन्दी की भावना को प्रतिभा के प्रतिकूल और कवि प्रकृति के खिलाफ मानते हैं। वे लिखते हैं, "दलबंदी का भाव प्रतिभा के प्रतिकूल है। आज तक संसार में जितने प्रतिभाशाली व्यक्ति हुए हैं, उनमें दलबंदी का भाव न था। उनके समय या उनके बाद जो एक दल उनके अनुयायी अथवा प्रशंसक के रूप से बंधा हुआ दिख पड़ता है इसके लिए उन्हें दलबंदी करने वालों में अंतर्भुक्त कहना ठीक नहीं। --- एक सच्चा साहित्यिक या कवि अपनी प्रकृति के अनुसार ही दलबंदी से पृथक रहता है। आदमियों में मिलकर या एक दल अपने साथ लेकर कभी कोई सूक्ष्म चिंतन नहीं कर सकता। अध्ययन में भी दलबंदी बाधक होती है। पुनः दलबंदी का भाव किसी स्वार्थ का ही द्योतक है। स्वार्थ सीमा से बाहर नहीं जा सकता, इसलिए इसके रहते उच्च साहित्य का निर्माण असंभव है।--- वेदों की इतनी बड़ी महिमा केवल इसलिए है कि वे देश और काल के बंधनों से बाहर है। ---प्रतिभा बंधन नहीं मानती। तभी साहित्य का कल्याण होता है। प्रतिभाशाली लेखक या कवि के समय दलबद्ध लोग श्रृंखला का विचार कर प्रायः उससे असहमत रहें है। पर बाद को सब ने उसका आदर किया है।"14 निराला साहित्य में खेमेबाजी या दलबंदी को श्रेष्ठ साहित्य के सृजन में एक बाधक तत्व के रूप में देखते हैं। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे परंपरा को सामने रखते हैं। दल विशेष से आबद्ध रचनाकार की दृष्टि संकुचित और एकांगी होती है। इसलिए बाह्य जगत का ग्रहण और उसकी अभिव्यक्ति भी इकहरे दृष्टिकोण को लिए हुए होती है। वे यह भी कहते हैं कि नवीनता हमेशा समाज के अनुकूल चित्रण से नहीं आती बल्कि समाज से इतर जो सत्य है उसके अनुसार चित्रण से ही नवीनता का संबंध है। इसीलिए महान साहित्यकारों या दार्शनिकों का उनकी समकालीन राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्था से असहमति ही रही है।

छायावाद की महत्वपूर्ण कवयित्री महादेवी वर्मा के आलोचना संबंधी निबंध उनकी पुस्तक 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध' में संकलित है। छायावादयुगीन अन्य कवियों की तरह महादेवी वर्मा की आलोचना दृष्टि वैचारिक स्तर पर काफी परिपक्व हैं। अपने समवर्तियों की तरह उन्होंने भी यथार्थ और आदर्श, काव्यानुभूति एवं काव्य सौंदर्य संबंधी प्रश्नों पर गहराई से विचार किया है। एक लेखक के लिए साहित्य सृजन का उद्देश्य क्या होना चाहिए इस बारे में वे अपने विचार प्रस्तुत करती हैं - "मनुष्यता का सर्वांगींण विकास, मनुष्य के जीवन की दुःख दैन्य रहित गरिमा, शिवता और सौन्दर्य हमारा लक्ष्य है।"15 महादेवी की काव्य-दृष्टि सौंदर्यवादी है। मनुष्य का कल्याण, अमंगल का नाश रचनाकार का ध्येय होना चाहिए; लेकिन यह ध्येय सौंदर्यवादी दृष्टि से ही अभिव्यक्त होगा यह वे कहना चाहती हैं। कला के जीवन के प्रति संबंध से नकार उनके यहां नहीं है। उनके अनुसार कलाकार के लिए रचना एक चुनौतीपूर्ण कार्य और जिम्मेदारी का काम है क्योंकि, "प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष सत्य ही नहीं अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है, उसका स्वप्न वर्तमान ही नहीं अनागत को भी रूपरेखा में बांधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नहीं संभाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमता देती है। परंतु इन सब की व्यष्टिगत और अनेक रूप अभिव्यक्तियाँ दूसरों

तक पहुँच कर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने में समर्थ है।"16 महादेवी कला के जीवन के प्रति संबंध को लेकर यहाँ तक कहती हैं - "कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है"17 रचनाकार जीवन के प्रति नास्तिक नहीं हो सकता। यदि कलाकार के भीतर जीवन के प्रति अस्वीकार का भाव है तो उसकी स्थिति 'डाल से टूटे पत्ते' की भांति है। बिना जीवन का स्पर्श पाये कोई भी रचना, रचना कहलाने की हकदार नहीं है. उसे जीवन को अनुभूति के स्तर पर ग्रहण करना ही होगा. कला का सौंदर्य जीवन की इसी अभिव्यक्ति में निहित है। जीवनानुभूति जितनी तीव्र होगी रचना का सौंदर्य भी उतना ही प्रमाणिक और उत्कृष्ट होगा। इसे और स्पष्ट करते हुए वे कहती हैं - "सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएं जिस सौंदर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम् अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूप रेखा पर नहीं।"18 संसार के और भी जितने कर्म हैं उनमें सृजन भी एक कर्म है और यह कर्म जीवन के साथ सतत् संपर्क से ही ऊर्जा प्राप्त करता है। प्रत्येक रचनाकार का लक्ष्य रचना के माध्यम से सत्य का अन्वेषण करना है। इसलिए जीवन के प्रति उसकी आस्था अवश्यंभावी है। बिना जीवन-सत्य को जाने रचनाकार समष्टि के साथ रागात्मक संबंध स्थापित नहीं कर सकता। महादेवी के अनुसार "साहित्यकार का सृजन आस्था की धरती से इतना रस ग्रहण करता है कि उसे अस्वीकार करके वह स्वयं अपने निकट असत्य बन जाता है। साहित्य जीवन का अलंकार नहीं हैं, वह स्वयं जीवन है।"19 निश्चित तौर पर साहित्यकार सृजनकर्म के दौरान इस जीवन को जीता है। वह सृजन कार्य से अलग नहीं बल्कि उसकी आत्मा है। लेकिन जीवन के प्रति इस आस्था को वे किसी खास पक्ष या दृष्टिकोण से जोड़ कर नहीं देखती हैं। उनके लिए यह संपूर्ण जीवन के प्रति आस्था है। यहां कुछ भी त्याज्य नहीं है।

जीवन के किसी विशेष पक्ष को रचनाकार द्वारा सृजन का आधार बनाने से वे सहमत नहीं हैं, "मनुष्य का जीवन इतना एकांगी नहीं कि उसे हम केवल अर्थ, केवल काम या ऐसी ही किसी एक कसौटी पर रख कर संपूर्ण रूप से खरा या खोटा कह सकें।"20 स्पष्ट है वे साहित्य को किसी दायरे में सीमित करने की पक्षधर नहीं है इसीलिए वे किसी विशेष दृष्टिकोण से सहमत भी नहीं है।

महादेवी यथार्थ और आदर्श के बीच एक संतुलन को अपरिहार्य मानती है क्योंकि किसी एक का चित्रण जीवन की एकांगी व्याख्या होती है-"संतुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहें न कहा जा सके, परंतु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह एक दीर्घकाल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर संभव है या दूसरी पर, किन्तु समन्वय के किसी भी रूप से जितना विरक्त है बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढ़के वीर हैं कि जीवन की स्थूलता किसी और से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या एसे मुक्त जड़वादी कि संपूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है, या तो ऐसे तन्मय स्वप्न दर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का अनुभव नहीं कर पाते या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामंजस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है। --- आज जब बाह्य जीवन से संबंध रखने वाले राजनीति, समाज आदि के क्षेत्रों मे भी हमारे इस एकांगी दृष्टिकोण ने हमें केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वंस में ही जीवित रहने पर बाध्य किया है, तब काव्य के संबंध में क्या कहा जावे।"21 असल में महादेवी तत्कालीन सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में व्याप्त इकहरी और एकांगी

मानसिकता के प्रति क्षोभ प्रकट करती हुई साहित्य का लक्ष्य सत्य और आनंद की सृष्टि में देखती है क्योंकि, "प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी विशेष अपूर्णता से संबंध रखने के कारण तीव्र और एकांगी होती है। यदि उसे भूत और भविष्य की एक समन्वयात्मक कल्पना से संचालित न किया जावे तो वह विकास का अवकाश न देकर विषमताओं की श्रृंखला बनाती चलती है। यह सत्य है कि जीवन की गतिशीलता के लिए क्रिया-प्रतिक्रिया दोनों की आवश्यकता रहती है। प्रतिक्रिया की उपस्थिति किसी प्रकार भी यह नहीं प्रमाणित कर देती कि हमारी ध्वंसात्मक विद्रोह ने सृजन की समस्या भी सुलझा ली है। ध्वंस में केवल आवेग की तीव्रता ही अपेक्षित है, पर निर्माण में सृजनात्मक संयम के साथ साथ संमन्वयात्मक दृष्टि की व्यापकता भी चाहिए। प्रसाद का गिरना किसी कौशल की अपेक्षा नही रखता, परंतु बिना किसी शिल्पी के, मिट्टी का कच्चा घर बना लेना भी कठिन होगा, इसी से प्रायः राजनीतिक क्रान्तियों के ध्वंस युग के सूत्र धार निर्माण युग में अपना स्थान दूसरों के लिए रिक्त करते रहे हैं।"22

किसी भी रचनाकार के लिए आप एक पूर्व निधार्रित लक्ष्य नहीं रख सकते। रचना के लिए सिद्धांतो और नियमों की सरणी कलाकार या रचनाकार के सामने रखना एक तरह से उसकी रचनात्मक प्रतिभा पर अविश्वास करना है। महादेवी इस धारणा का खंडन करते हुए कहती हैं - "मनुष्य यंत्र मात्र नहीं है, कि उसका संपूर्ण बाह्य और अंतर्जगत कुछ विशेष नियमों से संचालित हो सके। बाह्य जीवन को तो विधिनिषेध किसी अंश तक बांध भी सकते हैं, परन्तु अंतर्जगत अपनी सूक्ष्मता के कारण उनकी परिधि से परे ही रहेगा। हमारा कोई भी स्वप्न, किसी प्रकार की भी कल्पना, कैसी भी इच्छा जब तक स्थूल साकारता नहीं ग्रहण करती, तब तक बाह्य संसार के निकट उसका अस्तित्व नहीं है। परंतु हमारे अंतर्जगत में तो उसकी स्थिति रहेगी ही और इस प्रकार वह रोग के कीटाणुओं के समान उपचारहीन क्षय भी करती रह सकती है और जीवन रस के समान स्फूर्ति का कारण भी बन सकती है। राजनीति और समाज के विधान हमारे इस सूक्ष्म जीवन को बांध नहीं पाते। स्थूल धर्म और सूक्ष्म अध्यात्म भी इस कार्य में प्रायः असमर्थ ही प्रमाणित होते रहे हैं, क्योंकि पहला तो राजनीति के न्याय-विधान को ही परलोक में प्रतिष्ठित कर आता है और दूसरा सत्य को सौंदर्य रहित कर देने के कारण केवल बुद्धिग्राह्य बनकर हृदय के लिए अपरिचित हो जाता है"23 वे यह स्पष्ट करना चाहती हैं कि न तो जीवन को किसी दायरे में बांध कर देखा जा सकता है और न ही रचनाकार के अंतर्जगत के साथ ऐसा करना संभव है. कोई भी नियम रचनाकार के अंतर्जगत को बांध नहीं सकता है। रचनाकार से रचना में कोरे यथार्थ चित्रण का आग्रह करना साहित्य के वजूद को नकारना है और काल्पनिक आदर्श का आग्रह भी गलत है। उनके अनुसार ऐसा दृष्टिकोण ध्वंसात्मक या एकांगी होता है। ऐसा करके वह काव्य का विभाजन नहीं चाहती। जीवन का यथार्थ और जीवन की कल्पना दोनों उनके अनुसार एक साथ जरूरी है इसलिए इन दोनों के बीच वह समन्वय स्थापित करना चाहती है। इसको स्पष्ट करते हुए कहती हैं, "किसी भी युग में आदर्श ओर यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरूक्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षों में परिवर्तित करके खड़े नहीं किये जा सकते, जिनमें से एक युद्ध की आग में जल गया और दूसरे को पश्चाताप के हिम में गल जाना पड़ा। वे एक दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न कर सकता है, सामंजस्य नहीं। न यथार्थ का कठोरतम्

अनुशासन आदर्श के सूक्ष्म चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है, और न आदर्श का पूर्णतम् विधान यथार्थ को शून्य आकाश बना सकता है"24 उनका कहना है कि यथार्थ और आदर्श को विपरीत ध्रुव मानकर चलने से काव्य में असंगति पैदा होती है जब कि जरूरत दोनों के बीच सामंजस्य की है। रचनाकार अपने समय के साथ प्रतिक्रिया करे, उसका ध्वंस करे लेकिन वह यही नहीं रूक जाये बल्कि एक नये युग का एक नये स्वप्न का सृजन भी करें। स्वप्न और सत्य का सामंजस्य रचना में पूर्णता की अभिव्यक्ति है। क्योंकि निषेध कभी भी स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता; यह वे कहना चाहती है।

महादेवी वर्मा कहती हैं कि रचनाकार बाह्यजगत के महत्व को समझते तो हैं लेकिन फिर भी वे इस जीवन से कोसों दूर रहकर सिर्फ सिद्धांतों के आधार पर रचनाएं कर कवि कर्म की इतिश्री मान लेते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसी अभिव्यक्ति में जीवन की सच्ची ताजगी का अभाव होता है। वे लिखती हैं - "आज कलाकार समष्टि का महत्व समझता है, परंतु इस बोध के साथ भी उसके संपूर्ण जीवन की स्वीकृति नहीं है। बौद्धिक धरातल पर चिर उपेक्षित मानवों की प्रतिष्ठा करते समय उसे अपनी विशालता की जितनी चेतना है, उतनी अपने देवताओं की नहीं। ऐसी स्थिति बहुत स्पृहणीय नहीं, क्योंकि वह सिद्धांतो को व्यापार का सहज साधन बन जाने की सुविधा दे देती है।---नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धिवैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धांतों को मांज धोकर दिन भर चमकाती रहती है, पर जीवन में जंग लग जाने देती है। वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पक्ष से सब कुछ ले आना चाहते है और दूसरे को, बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते है। इस बंजारा वृत्ति से उन दोनों पक्षों को लाभ होने की संभावना कम रहती है। काव्य में तो जीवन का निरंतर स्पर्श और उसकी मार्मिक अनुभूति सबसे अधिक अपेक्षित है, अतः यह प्रवृत्ति न उसे गहराई देती है और न व्यापकता। यह युग यथार्थवादी है अतः जीवन के स्पंदन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओं से उसमें कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।"25

महादेवी 'सामयिक समस्या' नामक अपने लेख में मार्क्सवाद एवं गांधीवाद से प्रभावित साहित्य की भी विवेचना करती है। वे किसी भी 'दृष्टि' की विरोधी नहीं हैं लेकिन वे साहित्य को उसकी संपूर्णता में ही देखना पसंद करती है। वे लिखती हैं - "आज का प्रकृतिवाद मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, वह काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद चाहता है, अतः साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्व सैद्धान्तिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। --- गांधीवाद के राजनीतिक पक्ष ने भी श्रेष्ठ साहित्यकारों को बांधने में असमर्थ होकर अपने प्रचार के लिए एक विशेष साहित्यिक वर्ग संगठित कर लिया था, जो प्रथम श्रेणी का साहित्य देने में समर्थ न हो सका। पर गांधीवाद बाह्य दृष्टि से राष्ट्र का संयुक्त मोर्चा है और आंतरिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण है। इसी से किसी भी विचार पर कलाकार एक न एक स्थल पर उसका समर्थक है और किसी न किसी अंश तक प्रभावित है।"26 महादेवी का प्रगतिवादी साहित्य से यही शिकायत है कि वह जीवन को एक खास दायरे में बांधकर ही देखना चाहता है। वे मानती हैं कि साहित्य का लक्ष्य हमेशा विध्वंस, निषेध नहीं हो सकता बल्कि वे यथार्थ और आदर्श के बीच समन्वय चाहती है।

देखा जाए तो हिंदी साहित्य में सृजनात्मक आलोचना की शुरूआत ही छायावादयुगीन कवियों से होती है। लगभग सभी कवि, आलोचक की भूमिका में भी सामने आते है और कविता के दार्शनिक पक्ष के साथ-साथ विचार धारा, आदर्श व यथार्थ के बीच समन्वय की बात करते है। महादेवी तो कहती हैं कि 'मनुष्यता का विकास, मनुष्य की दुख दर्दों से मुक्त गरिमा, शिवता और सौन्दर्य ही हमारा लक्ष्य है। काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' कहने वाले प्रसाद यथार्थ को 'जीवन की अनुभूति' और 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' कहते हैं। वहीं निराला रचनाकार को किसी खास वर्ग के अनुसार नहीं बल्कि समष्टि को लेकर चलने पर जोर देते हैं। यही नहीं वे साहित्य में दलबन्दी की भावना को प्रतिभा के प्रतिकूल एवं सांप्रदायिक दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं।

---

1) काव्य और कला तथा अन्य निबंधः जयशंकर प्रसाद पृ. 20
2) काव्य और कला तथा अन्य निबंधः जयशंकर प्रसाद, पृ..25
3) काव्य और कला तथा अन्य निबंध जयशंकर प्रसाद पृ..25
4) काव्य और कला तथा अन्य निबंधः जयशंकर प्रसाद, पृ.77
5) काव्य और कला तथा अन्य निबंधः जयशंकर प्रसाद, पृ. 75
6) वही, पृ. 75
7) काव्य और कला तथा अन्य निबंधः जयशंकर प्रसाद, पृ. 77
8) काव्य और कला तथा अन्य निबंधः जयशंकर प्रसाद, पृ. 77
9) प्रबंध पद्यः निराला, पृ. 24
10) प्रबंध पद्यः निराला, पृ. 24
11) प्रबंध पद्यः निराला, पृ. 25
12) वही पृ. 26
13) वही पृ. 28
14) निराला संचयिताः सं. नन्दकिशोर नवल, पृ.358
15) साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ.26
16) सहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ.37
17) सहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ. 37
18) साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ.31
19) साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ.24
20) साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ.24
21) वही पृ.121
22) वही पृ. 122
23) सहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ. 123
24) साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध: महादेवी वर्मा, पृ.124।
25) वही पृ. 47
26) वही पृ. 150

डॉ. भँवर सिंह शक्तावत
सहायक प्राध्यापक, जैन विश्वविद्यालय, बेंगलूरू फोन न. 8792913646